Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

स्कन्दपुराण में आश्रमव्यवस्था का संक्षिप्त अवलोकन

डॉ0 वन्दना सिंह
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
प्रताप बहादुर स्नातकोत्तर महाविद्यालय
प्रतापगढ़ सिटी, प्रतापगढ़ उत्तर प्रदेश।

सारांश– स्कन्दपुराण में कहा गया है कि समापवर्तन संस्कार के बाद व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में स्त्री सहित रहना चाहिए। पुत्र–पौत्रों की उत्पत्ति के बाद वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए जैसे चींटी मूल से शाखा पर क्रमशः चढ़ती है और वह पदगामिनी क्रमशः सहज से सहज फल पर पहुँचती है विघ्न की आशंका को त्यागकर तथा थक जाने पर विश्राम करती है तथा सुख का आनन्द लेती है। उसी प्रकार व्यक्ति को क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ के बाद संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए तभी व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मुख्य शब्द– स्कन्दपुराण, आश्रमव्यवस्था, संस्कार, धर्म, पुरुषार्थ।

वर्णों का निरूपण करके जहाँ अलग–अलग लोगों द्वारा किये जाने वाले काम का बँटवारा किया गया है वहीं आश्रमव्यवस्था द्वारा व्यक्ति की आयु को चार भागों में बाँटकर उसके जीवन का एक सुनिश्चित कार्यक्रम पूर्वनिर्धारित कर दिया गया था। आङ्पूर्वक श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'आश्रम'[1] शब्द का अर्थ है–जिसमें श्रम ही श्रम है, जिसमें आलस्य का स्थान नहीं, जिसमें प्रतिपल सजग सचेत रहना पड़ता है। वस्तुतः जीवन का श्रमसाध्य यात्रा है जिसमें हर क्षण कर्मनिरत रहते हुए ही सौ वर्ष जीने की अभिलाषा सार्थक कही जा सकती है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।[2]

हमारे आदि धर्म विधायक मनु ने मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष मानकर उसे पच्चीस–पच्चीस वर्ष के जिन चार विभागों में बाँट दिया था, वही हिन्दू जीवन विधान के ये चार आश्रम हैं। इनमें प्रथम ''ब्रह्मचर्याश्रम'' शिक्षा का पड़ाव है। दूसरा सोपान ''गृहस्थाश्रम'' जीवन के व्यवहार पक्ष का मध्यवर्ती प्रमुख

कर्मभूमि है। तीसरा ''वानप्रस्थाश्रम'' इसलिए नियोजित किया गया है कि भोग–विलास, लोक–संग्रह की संघर्षमय गतिविधियों से किनारा कसकर, अब व्यक्ति चौथे अंतिम पड़ाव में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करे। तब चौथा जिसे 'संन्यासाश्रम'' की संज्ञा प्रदान की गयी है, जीवन के चरम लक्ष्य की उपलब्धि हेतु निर्धारित परमार्थ की कक्षा है। यहाँ पहुँचकर व्यक्ति सभी ऐहलौकिक कर्त्तव्यों और दाायित्वों से मुक्त होकर अपनी सम्पूर्ण साधना मात्र ''आत्मबोध'' एवं ''परमात्मा'' के साक्षात्कार हेतु ही केन्द्रित कर देता है।[3]

इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन स्कन्दपुराण में किया गया है।[4] आश्रम एक तरह से कर्ममय जीवन यात्रा के चार पड़ाव हैं, चार विश्राम स्थल हैं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति रुक–रुक कर एक निश्चित कार्य सम्पन्न करके ही आगे बढ़ता है।[5] विष्णु पुराण में कहा गया है कि आश्रम के पालन से व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकि एषणाओं की पूर्ति होती है[6], और न पालन करने पर यह यातना प्राप्त करने वाला हो जाता है।[7] इस प्रकार आश्रम व्यवस्था जीवन विधि को नियमित करने तथा निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य पालन के लिए विहित है।

आधुनिक विद्वानों का मत है कि आरम्भ में तीन ही आश्रम थे – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और यति।[8] संन्यास का प्रचलन बाद में हुआ। मनु ने भी मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में केवल तीन आश्रमों का निर्देश किया है परन्तु आगे चार आश्रमों की चर्चा की गयी है। स्कन्दपुराण में चारों आश्रमों का कथन किया गया है। आत्मविषयक ज्ञानेच्छुक ध्रुव से यमराज ने कहा बच्चे! इस समय में तुमको खिलौना लेकर अपने समवयस्क लड़कों के साथ रात–दिन खेलना चाहिए तत्पश्चात् किशोर अवस्था होने पर तुमको अध्ययन में तत्पर होकर समस्त विद्याओं का पारदर्शी होना चाहिए तदनन्तर गृहस्थ और संन्यास जीवन यापन करना चाहिए।[9] गौतम, आपस्तम्ब आदि आचार्यों ने चार आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख किया है। चतुराश्रमों की मान्यता पुरुषार्थ की दृष्टि से युक्ति संगत ही है

ब्रह्मचर्य आश्रम– ब्रह्मवेद, ब्रह्मतपो, ब्रह्म ज्ञानं वा तच्चर त्यर्जयति अवश्यं–व्रते इति वा0[10] अर्थात् ब्रह्मचर्य शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ब्रह्म में विचरण। यह आश्रम वेदाध्ययनकाल है। वेद को ब्रह्म कहा जाता है इसलिए इसके अध्ययन का व्रत ब्रह्मचर्य तथा अध्येता को ब्रह्मचारी कहा गया है।[11] चूँकि वेदाध्ययन की मानसिक क्षमता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य की महती आवश्यकता रहती है, फलतः ब्रह्मचर्य का वीर्यरक्षा रूप अर्थ यहाँ भी अनुगत है।

उपनयन संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ होता है। उपनीत बालक को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश दिया जाता है। उसके लिए कठोर दिनचर्या निर्दिष्ट की गयी है। प्रतिदिन समिधा जुटाने के बाद स्नान करना, अग्नि संचार करके आचमन, संध्योपासना करना, तर्पण करना, गुरु के लिए पास–पड़ोस से भिक्षा लाना, गुरु के अधीन वेदाध्ययन करना। गुरु के जलपात्रों में पानी भरना। कुश, पुष्प, मिट्टी, गोबर आदि जुटाना। भू शयन करना। प्राप्त भिक्षा में से गुरु के आदेश पर ही अपने लिए भोजन का अंश ग्रहण

करना। मधु (मदिरा) नहीं खाना। आमिष भोजन करना, भोजन का अंश जूठा नहीं छोड़ना। भोजन–पात्र स्वयं माँजना–धोना, दिन में नहीं सोना। जूता नहीं पहनना, शरीर में तेल नहीं लगाना, काजल, अंजन आदि भी नहीं लगाना, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना, नृत्य–गीत, क्रीड़ा–कौतुक आदि में भाग नहीं लेना। स्त्री को न घूरना, न स्पर्श करना, न उससे अनावश्यक वार्तालाप करना। सिर के बाल या तो मुड़ाए रखना या जटा के रुप में बढ़ाए रखना। नित्य गायत्री मंत्र का जप करना। शिष्टाचार के नाते गुरु को अभिवादन करते समय उठकर पैर छूना। उनकी निन्दा, नकल, मजाक नहीं करना। गुरुपत्नी का भी वैसा ही आदर करना जैसा गुरु का हो पर उन्हें अभिवादन दूर से प्रणाम करके ही करना। उनके पैर नहीं छूना आदि । इन विधि निषेधात्मक नियमों का एकमात्र उद्देश्य अन्तेवासी ब्रह्मचारी में धर्मपालन, अनुशासन एवं संयम के आदर्शों को इतनी मजबूती के साथ स्थापित कर देना था कि आगे चलकर गृहस्थाश्रम में वह सच्चा धर्मनिष्ठ नागरिक बन सके।[12] गुरु के वेद का ज्ञान प्राप्त करके स्वाध्याय करना तथा गुरु की आज्ञानुसार गुरुदक्षिणा देना ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। यही ब्रह्मचर्य की पूर्णता है। स्कन्दपुराण में विश्वानर के पुत्र गृहपति ने नियमानुसार ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन किया था।[13] इस एक उदाहरण से स्पष्ट है कि स्कन्दपुराण काल में ब्रह्मचर्य का विद्यार्थी कठोरता से पालन करते थे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम (विषय भोग से अलग रहना) गृहस्थाश्रम की सफलता का मूलमंत्र भी है। संक्षेप में ब्रह्मचर्य आश्रम व्यक्ति के समुचित विकास के लिए निर्दिष्ट एक वैज्ञानिक जीवन पद्धति है। इसकी उपादेयता देश काल की सीमा में नहीं बाँधी जा सकती।

गृहस्थाश्रम– स्कन्दपुराण में गृहस्थाश्रम को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। यह मानव जीवन की द्वितीय अवस्था का द्योतक है। व्यक्ति विवाह करके गृहस्थ कहलाता है[14], अतः गृहस्थ वह आश्रम है जिसमें भार्या का ग्रहण किया जाता है। लगभग दो दशक तक विद्याध्ययन करके युवा ब्रह्मचारी इतने समय तक माता–पिता से दूर रहने के बाद जब आचार्यकुल से वापस घर लौटता था; और तभी निज वर्ण के अनुरूप जीवन–निर्वाह के लिए वह व्यवसाय में भी लग जाता था। कालान्तर में वह एक गृहस्थ के रूप में जीवन के द्वितीय चरण पर स्थापित होकर शास्त्रों में निर्धारित विविध धर्म–कर्त्तव्यों का पालन करता था। यही उसका गृहस्थ जीवन कहलाता था इसे हिन्दू विधान में गृहस्थ आश्रम नाम की संज्ञा प्रदान की गयी है।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि अपना निर्धारित वेदाध्ययन परिपूर्ण कर लेने पर मनस्वी शिष्य आचार्य को गुरुदक्षिणा दे। उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। तब शास्त्र विधि से विवाह करे। अपने वर्णोचित वृत्ति–व्यवसाय के द्वारा द्रव्य अर्जित करे। इस तरह वह यथासाध्य निज गृहस्थ जीवन का निर्वाह करता रहे। श्राद्धतर्पण द्वारा पितरों की, यज्ञयागादिक द्वारा देवताओं की, अन्नदान द्वारा अतिथियों की, स्वाध्याय द्वारा ऋषियों की, पुत्रोत्पत्ति द्वारा प्रजापति की, वैश्वदैव आदि बलियों द्वारा सभी प्राणियों की एवं वात्सल्य द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत् की पूजा करते हुए, वह सत्कर्मों से अर्जित उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त करे। वस्तुतः

जो निवृत्ति मार्ग अपनाते हैं उन परिव्राजक संन्यासियों और ब्रह्मचारियों के जीवन निर्वाह का भी मुख्य आधार एवं आश्रय गृहस्थाश्रम ही है।[15]

स्कन्दपुराण में यमराज और ध्रुवसंवाद में यमराज ने ध्रुव से कहा बच्चे! इस वयस् में तुमको खिलौना लेकर अपने समवयस्क लड़कों के साथ रात–दिन खेलना चाहिए तत्पश्चात् किशोर अवस्था होने पर तुमको अध्ययन में तत्पर होकर समस्त विद्याओं का पारदर्शी होना चाहिए। तदनन्तर यौवन प्राप्त होने पर इन्द्रियार्थों को कृतार्थ करते हुए चन्दन इत्यादि अनेक भोगों का उपभोग करना चाहिए। उस घड़ी धर्मवत्सल गुणवान् अनेक पुत्रों को उत्पन्न कर और राजलक्ष्मी को उन सब के अधीन कर तब तुम तपस्या करने बैठना।[16] स्पष्ट है कि व्यक्ति गृहस्थ आश्रम के धर्मों का पालन करता था बाद में वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था।

गृहस्थाश्रम में नारी को पुरुष के बराबर स्थान दिया गया है। पति को भार्या की सदा रक्षा करनी चाहिए, और उसका पालन करना चाहिए। गृहस्थाश्रम को न स्वीकारने वाले को हेय माना गया है।[17] गायत्री मन्त्र द्वारा नित्य की जाने वाली प्रार्थना में स्पष्ट किया गया है कि आयु, बल, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और दुःखों से मुक्ति मानवमात्र की स्वाभाविक इच्छाएँ हैं। इन्हें गृहस्थ हुए बिना पूरा नहीं किया जा सकता है। गृहस्थों के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए मनु ने लिखा है कि गृहपति को दश प्रकार के धर्मों का सेवन करना चाहिए। ये धर्म हैं–धृति, क्षमा, शम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय– निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य, और क्रोधत्याग[18]। कारण यह है कि परलोक में माता–पिता, पुत्र, भार्या, प्रभृति स्वजन साथ नहीं दे सकते, केवल धर्म ही सहायक होता है। अतिथि सेवा गृहस्थ का परमकर्त्तव्य माना गया है। अर्थशास्त्र में गृहस्थ के चार प्रमुख कर्त्तव्य गिनाए गये हैं।[19]

1. अपने धर्म के अनुकूल जीवन यापन करना।
2. विधि पूर्वक विवाह करना।
3. अपनी पाणिग्रहीता से ही सम्पर्क करना।
4. देव–पितरों तथा भृत्यों आदि को सन्तुष्ट करने के पश्चात् अवशिष्ट भोजन ग्रहण करना।

स्कन्दपुराण में गृहस्थाश्रम को चारों आश्रमों में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि यहीं आकर तो यथार्थतः जीवन की शुरुआत होती है। इसीलिए इस पुराण में इसकी महिमा बड़े जोर–शोर से बखानी गयी है। इसे सभी आश्रमों का सिरमौर बताया गया है। इस आश्रम में रहते हुए व्यक्ति कर्त्तव्यों की पूर्ति कर तीनों ऋणों को चुकाकर चारों पुरुषार्थों एवं ऐहलौकिक, पारलौकिक सभी एषणाओं की धर्मानुसार आपूर्ति करते हुए अपना दायित्व पूरा करता है।

स्कन्दपुराण में गृहस्थाश्रम की महत्ता को स्थापित करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक इन चारों आश्रमों के बीच गृहस्थ ही सभी का आधारस्वरूप है, क्योंकि उसके बिना इन

सबका निर्वाह नहीं हो सकता। प्रतिदिन गृहस्थ ही के द्वारा देवता, पितर, मनुष्य और पशु–पक्षी जाति की भी जीविका चलती है; इससे गृहस्थाश्रम ही सबसे श्रेष्ठ है। जो गृहस्थ स्नान, हवन और दान बिना किए ही भोजन कर लेता है वह देवतादिकों का ऋणी होकर नरक में पड़ता है। स्कन्दपुराण में गृहस्थ धर्म का पालन करने पर बहुत जोर दिया गया है। स्कन्दपुराण का स्पष्ट मत है कि जो गृही बिना स्नान के भोजन करता है वह मल–भोजी है और बिना जप किये पक्वान्न खाता है एवं होमहीन भक्षण करता है तो वह कृमिभोक्ता है तथा दान से रहित होकर भक्षणशील होने पर विष्ठा–भक्षक होता है। परस्त्री के परित्याग एवं स्वदारा से ही संतोष एवं ऋतु काल में गमन इन्हीं कर्मों से गृहस्थ ब्रह्मचारी कहलाता है। जिसे रागद्वेष नहीं है, काम–क्रोध से रहित है, वही साग्निक सपत्नीक गृहस्थ वानप्रस्थ की अपेक्षा उत्तम है।[20]

वानप्रस्थाश्रम– वाने वन समूहे प्रतिष्ठिते–स्था धातु से क प्रत्यय[21]। अपने धार्मिक जीवन के तीसरे आश्रम में प्रविष्ठ व्यक्ति अर्थात् जो वन में सर्वोत्तम ढंग से कठोर नियमों का पालन करने हेतु रहता है वह वानप्रस्थ कहलाता है।

मनु के अनुसार जब गृहस्थ के सिर के बाल पकने लगे, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगे तथा उसके पौत्र हो जाय, तब उसे अरण्य का आश्रय लेना चाहिए।[22] उसे सब कुछ त्यागकर पत्नी को पुत्र के साथ सौंप कर अकेले या अपनी पत्नी सहित अरण्यवास करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में जो परिग्रह की भावना बनी रहती है उससे अलग होना ही वानप्रस्थ का प्रमुख उद्देश्य है। जिस प्रकार पका हुआ फल वृक्ष से स्वयं टपक पड़ता है, अलग हो जाता है, उसी प्रकार गृहस्थ काल की भोग प्रवृत्तियों से स्वयमेव असम्पृक्त होने की प्रेरणा वानप्रस्थ के मूल में निहित है। वस्तुतः जब मृत्यु के कारण एक न एक दिन भोगों से पृथक् होना अवश्यम्भावी है तो श्वोभाव तुल्य भोगों को स्वेच्छापूर्वक क्यों न त्याग कर दिया जाय? यह विवेक ही सांसारिक प्रवृत्ति से पराङ्मुख होने का प्रेरक है। चूँकि नगरीय वृत्ति धारण करते हुए कामादि षड्रिपुओं का दमन सरल नहीं है फलतः निसर्ग सुषमासम्पन्न इन प्रदेश को उसका समुचित वातावरण माना गया है। गृहस्थाश्रम के बाद अर्थात 50 वर्ष की आयु होने पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने का निर्देश दिया गया है।

वानप्रस्थी पुरुष वन्य कन्दमूल, फल, शाकादि का भोजन करता है, मांस भक्षण उसके लिए निषिद्ध है। वह मृगचर्म या वृक्ष की छाल पहनता है और भूमि पर शयन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है; दुःख–सुख मानापमान प्रभृति द्वन्द्वों को सहता हुआ दान देता है और सभी प्राणियों पर दया करता है[23]। नित्य त्रिकाल स्नान एवं संध्या करता है, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करता है। शनैः–शनैः तपश्चर्या की वृद्धि करते हुए ग्रीष्म में पंचाग्नितप सहन करता है। वर्षा ऋतु में खुले स्थान में निवास करता है और हेमन्त में गीला परिधान पहनता है। इस प्रकार कठोर नियमों का पालन करते हुये वानप्रस्थी अपने शरीर की शुद्धि करता था तथा विद्या रूपी तपस्या का उत्कर्ष करके अपने चित्त को सांसारिक विषयों से प्रत्यावर्तित करने

का प्रयास करता था।[24] महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, क्षमा, शौच, वानप्रस्थी के सनातन धर्म हैं। जिनका पालन करने पर वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।[25]

स्कन्दपुरा में कहा गया है कि वानप्रस्थी को राग–द्वेष और काम–क्रोध से रहित होना चाहिए। जो कोई वैराग्यवश होकर गृह–परित्याग करने पर फिर हृदय में गृहधर्मों का स्मरण करता है, वह न तो वानप्रस्थ हुआ न गृहस्थ हुआ किन्तु वह उभयतोभ्रष्ट है।[26]

संन्यासाश्रम– संन्यास शब्द का अर्थ है सम्यक् रूप से त्याग–सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां संन्यासः।[27] सामान्यतया यह समझा जाता है कि गृह–गृहस्थी छोड़कर निकल जाना, भस्म, त्रिपुण्ड लगाकर गंगातट पर पड़े रहना संन्यास है परन्तु यह सच नहीं है। भौतिक पदार्थों का त्याग मात्र संन्यास नहीं है। अपितु यह राग–द्वेष, मोह–ममता प्रभृति आन्तर भावों का त्याग है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने स्पष्ट रूप में कहा है कि संन्यासी वह है जो न किसी से द्वेष करता है और न ही स्नेह।[28] महाभारत में लिखा है कि संन्यासी की दृष्टि से पाषाण और कंचन, शत्रु, मित्र, उदासीन आदि सब समान होते हैं।[29] यह आश्रम 75 वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है। इसमें व्यक्ति यज्ञोपवीत, शिखा आदि चिह्नों तथा गृहाग्नि का त्याग कर देता था वह कषाय वस्त्र पहनता था तथा समय–समय पर सिर के सब बाल, दाढ़ी, मूँछ और नखों का छेदन करवाता था।

कहा गया है कि संन्यासी किसी अन्य योग्य संन्यासी से ही दीक्षा ग्रहण करे। दीक्षा लेते समय वह पिछला चोला लाक्षणिक रूप में एक प्रकार से उतार फेंके। इसको वह सिर, दाढ़ी तथा अन्य अंगों के केश मुड़वाकर दर्शाता है। कुछ संन्यासी गेरुआ रंग की चादर भी ओढ़े रहते हैं एवं नीचे लुंगी पहने पाये जाते हैं वे हाथ में एक दण्ड भी रखते हैं, जो जंगली लकड़ी के तीन खंडों को जोड़कर बनाया जाता है। यही ''त्रिदंडी'' संन्यासियों की निशानी है। इनके हाथों में एक कमंडलु अवश्य रहता है। हिन्दू समाज में संन्यासियों की यही विशिष्ट पहचान है।

संन्यासी के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि वह निरपेक्ष और एकाकी जीवन बिताये। इन्द्रियों को विषयों से पराङ्–मुख करने के लिए अल्पभोजन और एकान्तवास करे। उसे दिन में एक बार भिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी गयी है। क्योंकि भिक्षासक्त होने पर विषयासक्त होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। इन्द्रियजन्य के अतिरिक्त भ्रमणशीलता उसका प्रधान गुण माना गया है। यह गाँव में एक दिन और नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं रह सकता था जिससे वह मोह–पाश या सांसारिक प्रपंच में पुनः संसक्त न हो जाय।[30]

स्कन्दपुराण में भी चौथे आश्रम संन्यास का वर्णन किया गया है–यमराज ध्रुव को समझाते हुए कहते हैं कि यौवन प्राप्त होने पर इन्द्रियार्थों को कृतार्थ करते हुए चन्दन इत्यादि अनेक भोगों का उपभोग करते हुए धर्मवत्सल गुणवान् अनेक पुत्रों को उत्पादन कर और राजलक्ष्मी को उन सबसे अधीन कर तब तुम तपस्या

करने बैठना।[31] सन्यासी के गुणों का वर्णन करते हुए स्कन्दपुराण में कहा गया है कि जो यदि दुर्लभ या सुलभ किसी वस्तु की प्रार्थना करे और यदि भोजन से तृप्त न हो, तो वह संन्यासी पतित है।[32]

इस प्रकार स्कन्दपुराण में कहा गया है कि समापवर्तन संस्कार के बाद व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में स्त्री सहित रहना चाहिए। पुत्र–पौत्रों की उत्पत्ति के बाद वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए जैसे चींटी मूल से शाखा पर क्रमशः चढ़ती है और वह पदगामिनी क्रमशः सहज से सहज फल पर पहुँचती है विघ्न की आशंका को त्यागकर तथा थक जाने पर विश्राम करती है तथा सुख का आनन्द लेती है। उसी प्रकार व्यक्ति को क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ के बाद संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए तभी व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश–वामन शिवराम आप्टे पृ0 167
2. यजुर्वेद 40.2
3. हिन्दूधर्म का गौरव ग्रन्थ–कृष्ण बल्लभ द्विवेदी
4. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथम भाग 10.49
5. Prabhu Hindu Social Organization P.P.83
6. विष्णुपुाण 1.6.33
7. ब्रह्माण्ड पुराण 27.1.70–71
8. Prabhu Hindu Social Organization P.P.22
9. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथमभाग 20.60–69
10. ऋग्वेद 10/102/5 अथर्ववेद 6/8/102 शत0बा0 11/3/3/1
11. ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थ व्रत तदपि ब्रह्मा। तच्चरतीति ब्रह्मचारी–काशिका 8.3.86
12. हिन्दू–धर्म का गौरवग्रन्थ–कृष्णवल्लभ द्विवेदी पृ 243
13. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथमभाग–11 (एकादश अध्याय)
14. कृतादारपरिग्रहो गृहस्थः गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्। कुल्लूक भट्ट मनु0–3.2
15. विष्णुपुराण 3.9.7–11
16. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथमभाग 20.68–71
17. महाभाष्य 2.1.26
18. मनुस्मृति 2.67

19. प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ 74 डा0 वीरेन्द्र कुमार सिंह
20. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथमभाग 10.48–51
21. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे पृ0 879
22. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्। मनुस्मृति 6.2
23. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।।मनु0 6.8
24. प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0–78 डॉ0 वीरेन्द्र कुमार सिंह
25. ब्रह्मचर्य क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते। महाभारत, अनुशासन पव 1.21
26. स्कन्दपुाण, काशीखण्ड प्रथम भाग– 10.56–57
27. बौधायन धर्मसूक्त 10.1
28. गीता 5.3
29. महाभारत, शान्तिपर्व 192.3
30. मनुस्मृति 6.33–6.55
31. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथम भाग–20.70–71
32. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड प्रथम भाग–20.70–71